वक़्त के शूल

मत खेल जल जाएगी, कहती है आग मेरे मन की।
मत खेल ...
मत खेल।
मत खेल जल जाएगी, कहती है आग मेरे मन की।
मैं बंदिनी पिया की, मैं संगिनी हूँ साजन की।
मेरा खींचती है आँचल ...
मेरा खींचती है आँचल,
मन-मीत तेरी हर पुकार।

मेरे साजन है उस पार,
मैं मन-मार हूँ इस पार,
ओ मेरे माझी अब की बार, ले चल पार,
ले चल पार।
मेरे साजन है उस पार।

शैलेन्द्र

वक़्त के शूल

प्रेम को समर्पित
हर रूप में, हर रंग में
पूरक, अपूरक
जिससे जीवन है, जो जीवन है

वन्दना "ईमान"

जीवन से भरी तेरी आँखें मजबूर करें जीने के लिए ...

अज़ीम

मन का मीत जो कहीं खो गया

अर्पित

उन सभी को जिनके गीतों ने, कविताओं ने, कालाओं ने,
जीवन के मायनों ने यहाँ तक पहुँचाया ...
दुनिया दिखाई, ये प्रीत निभाई।
उल्फतें दे मन का हर भेद लिया।
इस अनजान महफ़िल में, कभी खोए, कभी पाए,
इस नाचीज़ को अपना-सा घर दिया।

कभी बिन बताए
चमकीले काँटों की तरह
थके तलवों में धँस
ज़ख़्मी रूह को लहूलुहान कर गुज़र जाते हैं ये।
तो कभी होले-से दस्तक़ दे,
पूर्णिमा के आशियाने को
अमावस्या के खण्डहर की तरह ध्वस्त कर आते हैं ये।

कुछ इस कदर हमसफ़र,
कि तमाम उम्र जी के भी लगते हैं ये सपने।
ज़िस्म में घुस के भी, नैनों में चुभ के भी,
हाय, कितने ये अपने ...
नसीबों के चँचल खेल जैसे,
घुँघरुओं की थिरकन,
मन के यौवन में उलझीं कठपुतलियाँ हो ऐसे।

बोझल मुसाफ़िर को जो
ज़िंदा होने का एहसास देते हैं,
तृप्ति की प्यास देते हैं,
आखिरी साँस देते हैं,
वक़्त के ये शूल, वक़्त के ये शूल ...
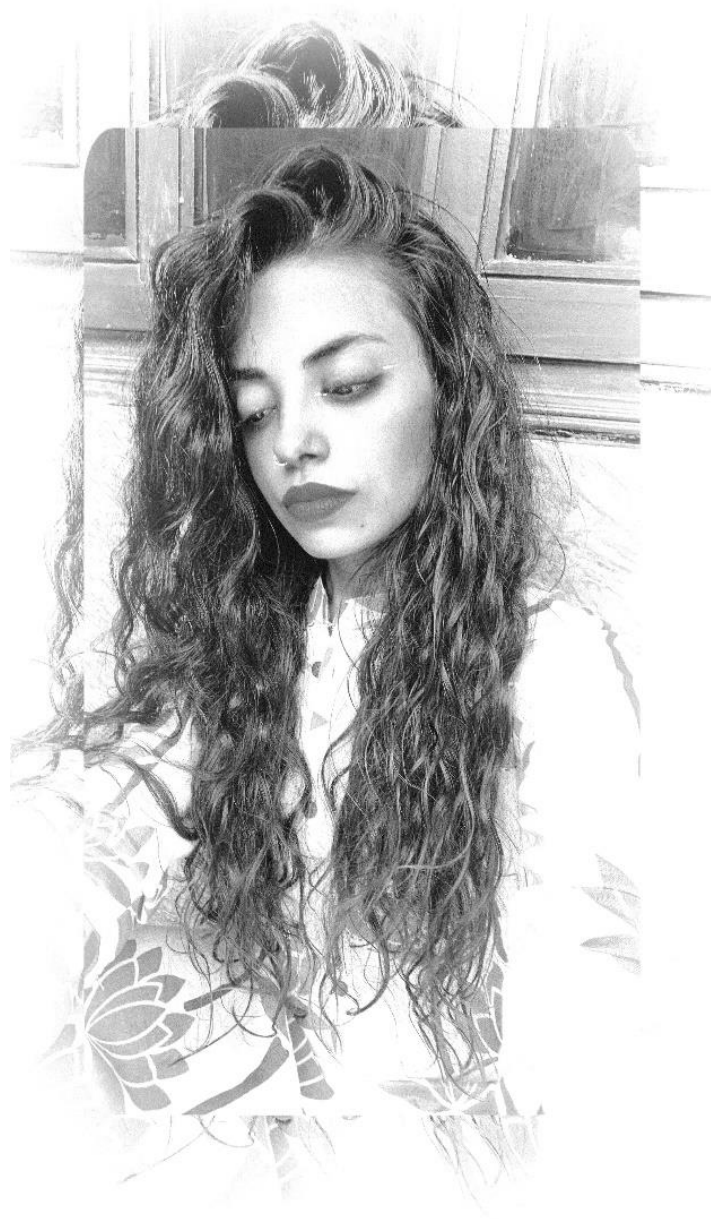
नदिया चले, चले रे धारा,
चंदा चले, चले रे तारा,
तुझको चलना होगा,
तुझको चलना होगा,
तुझको चलना होगा,
तुझको चलना होगा।

जीवन कहीं भी ठहरता नहीं हैं,
आँधी से, तूफां से डरता नहीं हैं।
तू ना चलेगा तो चल देगी राहें,
मंज़िल को तरसेगी तेरी निगाहें,
तुझको चलना होगा ....

पार हुआ वो रहा जो सफ़र में,
जो भी रुका घिर गया वो भवँर में।
नाव तो क्या बह जाये किनारा,
बड़ी ही तेज समय की हैं धारा,
तुझको चलना होगा ....

इंदीवर

इक शायरा बदनाम ...
बन-फ़ूल

***

अज़ीम

गुलमोहर
बंदिनी
रक्त-सी लाल

खोल दो
इंतज़ार
तलाश

बोलती तनहाई
एहसास

साहिर-ए-लूटेरा

वक़्त के शूल
तेरी साँसें
महसूस

पहचान
आखिरी बार
फिर न मिलूँगी

नीला आसमाँ

***

मीरा
आराधना का आराध्य

काहे को रोए, चाहे जो होए।
सफल होगी तेरी अराधना,
काहे को रोए ...

समा जाए इसमें तूफ़ान, जिया तेरा सागर समान।
नज़र तेरी काहे नादान, छलक गयी गागर समान।
हो ... जाने क्यूँ तूने यूँ असुवन से नैन भिगोए।
काहे को रोए ...

दीया टूटे तो है माटी, जले तो ये ज्योति बने।
बहे आँसू तो है पानी, रुके तो ये मोती बने।
हो ... ये मोती आँखों की पूँजी है ये ना खोए।
काहे को रोए ...

कहीं पे है दु:ख की छाया, कहीं पे है खुशियों की धूप।
ओ रे ओ ...
बुरा-भला जैसा भी है, यही तो है बगिया का रूप।
हो ... फूलों से, काँटों से, माली ने हार पिरोए।
काहे को रोए ...

इंदीवर

जाने क्या सोच कर नहीं गुज़रा, इक पल रात भर नहीं गुज़रा ...

ज़िंदगी को जो देख लो कुछ क़रीब से
हैरत-ए-अजब-सा इश्क़ जगता है,
कि वो गर पत्थर भी मारे जब फ़ेंक के
तो दिल-ए-दीवार सनम फूल लगता है।

ढलती रैन संग फिर दो निग़ाहों से
गुलबदन नया फ़िरदौस सिकता है।
जो ज़ख्मी ऊंस को थोड़ी भी फिज़ा दे,
वो दिलकश हसीन फ़साना बिकता है।
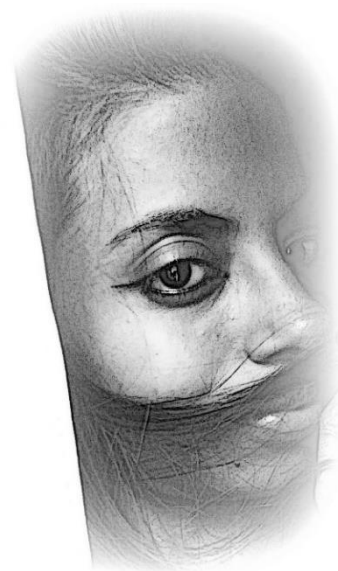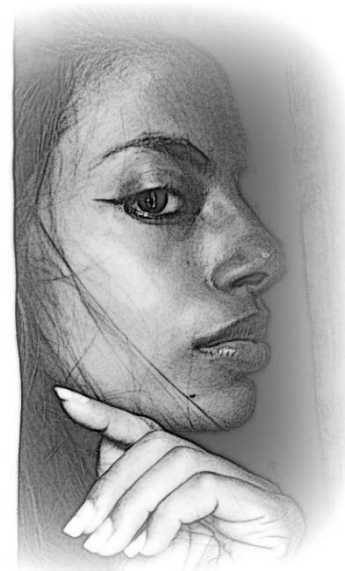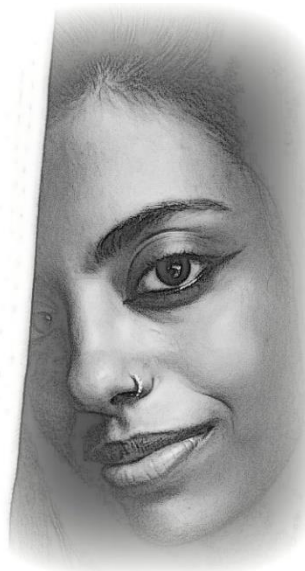
इक शायरा बदनाम ...

इक शायरा बदनाम ...

चलिए, हम ही आ गए मेहबूब की गली।
अब रुख़सती की ज़रा इजाज़त तो दीजिए।

जो कुछ अनकहा बाकी है
उसे लबों पे थाम,
इस सिन्दूरी नज़र की अन्तिम ही सही,
सलामी तो लीजिए।

कोई रंजिश न रखिये कि ये फ़रेब है नहीं।
मोहब्बत के रुसवा पैमाने से साक़ी झूठा ही भले,
इल्ज़ाम तो पीजिए।

जो हो जाए नशा, जो घुल जाए समा,
तो पैबन्दों से सिली ज़ुबान से, ऐ हुज़ूर,
दिल-ए-इज़हार तो कीजिए।

इक शायरा बदनाम ...

उलझनों से परे कहीं मेरा ख्वाब मौजूदा है,
इस सौतन-सी लिपटी बेरुखी में
इतनी तसल्ली तो दीजिए।

कि बिखरे कल के पन्नों में वो एहसास बाकी है,
ज़रा पूछने वाले इन जूठे होंठों का
खैर-पता तो लीजिए।

न समझिए कि ये गिला है बदगुमानी का।
हम तो चलने को आमादा हैं,
ये आखिरी जाम तो पीजिए।

नूर-ए-बदन-सी महकती इस अल्हड़ रात में,
चाहे इक बार ही हमदम सनम,
पर दिल-नवाज़ी तो कीजिए।

ये क्या जगह है दोस्तों, ये कौन सा दयार है,
हद-ए-निगाह तक जहां गुबार ही गुबार है।
ये क्या जगह है दोस्तों ...

ये किस मुकाम पर हयात मुझको लेके आ गई,
न बस खुशी पे कहाँ, न ग़म पे इख्तियार है।
ये क्या जगह है दोस्तों ...

तमाम उम्र का हिसाब माँगती है ज़िन्दगी,
ये मेरा दिल कहे तो क्या, के खुद से शर्मसार है।
ये क्या जगह है दोस्तों ...

बुला रहा है कौन मुझको चिलमनों के उस तरफ़,
मेरे लिये भी क्या कोई उदास बेक़रार है।
ये क्या जगह है दोस्तों ...

शहरयार
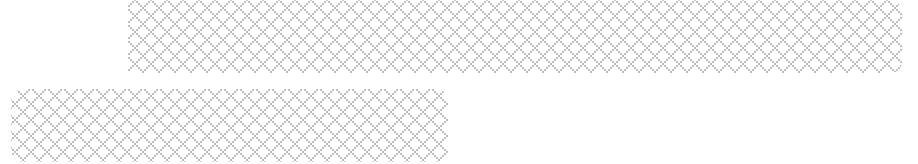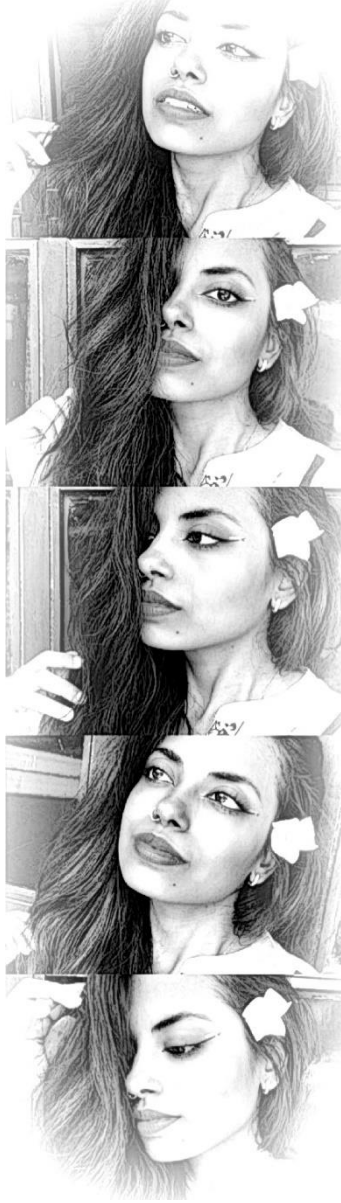
बन-फ़ूल

जिसके महज़ तसव्वुर से
मेरी वीरान वादियों में खोया गुलज़ार
फिर लौट आता है,
आज तुम्हारी बेबाक़ी से कही
इन चंद बातों ने सहसा उस एक मुलाक़ात को
फिर ज़िंदा कर दिया।

वैसे तो
समय की फिसलन के चलते
कई बरस बीत चुके हैं उसे देखे,
पर यादों का कहाँ ही होता है
कोई ठोर-ठिकाना।
जिस लम्हां
दरवाज़े पे हल्की-भी दस्तक हो,
पिटारा खुल, सब उछल आ गिरता है
आँखों में।

फिर चाहे लाख बार समेटो,
सम्भलो
या सम्भालो,

अधूरे मन की उस कालकोठरी में
वह इकलौती परछाईं ढूँढ ही लाती है
रोशनदान की अनंत गहराइयों में
परतों नीचे दबी
मेरे अस्तित्व की वो धूमिल किरण
जिसका परित्याग खुद सेहर ने
किया था कभी।

तुम आज जो इतना आग्रह करती हो
तो सुना रहा हूँ ये कहानी,
वरना उसका ज़िक्र ही मेरे ऊंस को
लहू-लुहान कर देता है।
रेल की पटरियों के समान
साथ होके भी न होने के
इस ऐसे संगम की व्याख्या
मेरे, तुम्हारे,
जहान-भर के शब्दों के बस में नहीं।
ऐसा ख़ौफ़नाक डर था
मेरे बिखरे ज़हन को उसके रूठ जाने,
एकाएक गुम हो जाने का,

कि किसी बेशक़ीमती इबादत की तरह,
मैं तमाम उम्र उसे क़ैद रखने को
आमादा था।

उस रात से वाबस्ता
आज तक हर बारीक बात मुझे याद है,
मानो जैसे कल की ही घटना हो।
ज़ंजीरों में बाँध कर भी वक़्त नहीं रोक सका,
जितना जकड़ा,
उतना मुट्ठी में संजोए रेत के दानों जैसे
खिसक़ गया।
खुली आँखों में बीता
ग़ुलाब की पँखुड़ियों-सा नाज़ुक़ फ़साना था,
जो आज सहम गया माझी के
ग़ैरआदतन छुअन से।
गर सह न सकी
तो फ़ौरन रोक देना मुझे,
कि परियों की अटखेलियाँ नहीं,
इस जर्ज़र जिस्म को भेदती
आपबीती है मेरी।

***
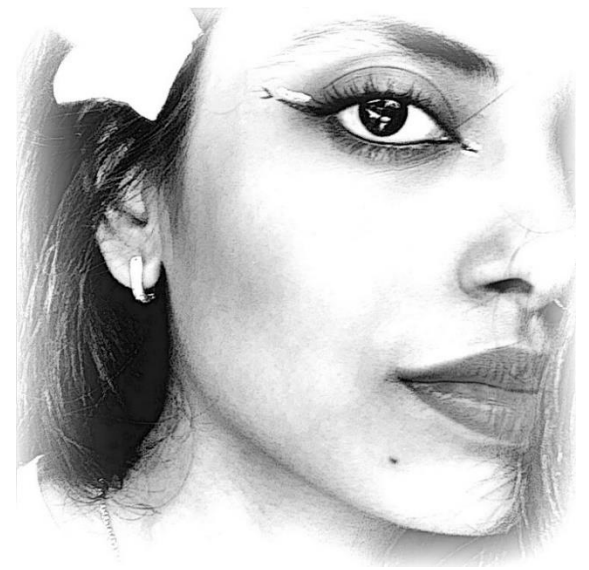
कृष्ण रात का आख़िरी पहर अभी बाक़ी था
चाँदनी में डूबने
जब मैंने घने कोहरे में घिरे
दूर से आते दो क़दमों की आहट सुनी।
लगा
कोई घुँघरुओं वाली झांझर पहने
मेरी ओर बढ़ रही थी।
आँखों को बार-बार मचल कोशिश की,
कि एक झलक नसीब हो जाए ...
पर इतने घुप अँधेरे में
मुझे अपने हाथों का पता न था
तो वो क्या ही दिखती ...

जब न धुँध छटी,
न नज़र कुछ भाँप पायी
तो ध्यान भटकाने नीचे देखा –
तारों के नूर ने
ज़मीन पे कच्चा-पक्का-सा नक़्शा
बना छोड़ा था।
मानो मुझे कुछ समझाना, दिखलाना चाहते थे।

पर जैसे ही ऊँगली से
हवा में रेख़ाऐं ख़ींच उनकी चाल को
जानना चाहा
तभी वो चाप तेज़ हो गयी।

एकाग्रह, मैंने फ़िर उसी ओर ताका –
कोतुहलवश,
कभी मेरी साँस अटकती महसूस हुई,
तो कभी कानों के करीब हरकत।
गला सूख गया
और रक्त नसों में बिजली की तरह कोंध पड़ा।
ज़मीन, आकाश, चाँद-तारे –
समस्त मंज़र विचित्र प्रतीत होने लगा।
मानो कोई मुझे और मैं हर चीज़ को
दूरबीन के छोर से देख रहा था।
निश्चित ही अब वोह सिर्फ़ मेरे मन का
भ्रम नहीं था।

उसका सामने होके भी न दिखना,
हवा के जैसे किसी वैद्युत स्पर्श का

मेरे चेहरे पे ठहर के गुज़र जाना,
वो तारों का भू-मंडलिय नाच,
वो घुंघरुओं का मद्धम शोर – भले दूर ही,
मगर किसी छलावे,
किसी जादूगर की भांति
कोई बड़ी ही संजीदगी से मुझे
अपनी गिरफ़्त में ले रहा था
जिसका एहसास उस पल मुझे
पहली बार हुआ।

निस्तब्ध,
विवश,
न समझते हुए भी
स्वयं ही मैं उस स्याह भँवर में गिरता रहा,
और वो ज़हर-सी अँधी,
अंगारों-सी जलती, जलाती धुंध
अपने साथ उसे और मुझे
आहिस्ता-आहिस्ता निगलती रही।
फ़िर सिर में अचानक भारीपन लगा
और सब धुँधला हो चला।

होश दुरुस्त होने पे भी
किसी गहरी, नशीली नींद में होने का
वो अनुभव तुम्हें कैसे व्यक्त करूँ,
अजीब से अक़्स की अनुभूति थी –
जैसे कोई मेरे अन्दर प्रवेश कर रहा हो।
अपने शरीर में एक और जान,
एक और मस्तिष्क,
एक और धड़कन ...
अटपटी जद्दोजहद, फ़िर भी स्वप्न नहीं।
न चीर का निशान,
न पीड़ा,
न ज़िस्म में अजनबीपन,
बस एक अद्भुत, अकल्पनीय पूर्ति का
जीवंत आभास।

नीचे देखा तो तारों का बिछाया नक़्शा
पन्नों से ओझल होते
लिखे हर्फ़ों की तरह धूल में मिलने लगा।
नज़र के सामने बहारों का आँचल उमड़ा
और रोम-रोम महक उठा।

उधार के ख़्वाबों को
कामिल देखने की आरज़ू कह लो,
या बेबसी में सहारे को खोजने की जुस्तजू,
उसका मुझ में यूँ घर कर लेना,
यूँ समा जाना,
मुझ बदनसीब को
किसी भूली मज़ार पे क़ुबूल होती
आख़िरी दुआ सा लगा।

किसी अँछुए जज़्बे के जज़ीरे के समान था
उसका यौवन,
मुझे अपने, अपनों से बहुत दूर ले आया था।
रात अधूरी करवटों में रहगुज़र हो
इस उम्मीद पे टिकी थी
क्षणभंगुर रूप-रंग की ये उसकी दुनिया,
जिसमें बिछता रहा, मैं कटता रहा,
अपने मुहाफ़िज में मिला, सँवरता रहा।
इशारा-ए-तौफ़ीक़ की सलामी लिए,
गुदगुदे जज़्बातों तले मैं बढ़ता गया,
निखरता गया।

धरती-अम्बर के उस अद्वितीय मेल के बीचोंबीच
अब सिर्फ़ उल्फ़तों की खिलायी
सुहानी सेज़ थी,
मैं था, वो थी, और जंगली बाँफशा की
सौदागरी भेंट थी।

***

गर कहीं शीशा चटकता
तो भी न ऐसी आवाज़ होती
जो मेरे भीतर बसे खण्डारों के टूटने पे हुई।
सूखे पीले पत्तों को अधपके विश्वास से
चिपकाए रखा था,
पर ज़रा तेज़ झोंके से चाँदनी का आशियाना
तीतर-बीतर हो चला।
आँसुओं से गूँधी गीली माटी की दीवारें,
चिकनी धरोहर पे टिकाया इष्ट,
क्या ही कर पाता उपासना ...
जो कुछ भी सोच पाया, जोड़ पाया बिसरे सवालों में

वो अर्पण न हो सका।
अभागे पुजारी-सा खड़ा देखता रहा
मनमंदिर को गर्द में ढहते ...
वो व्यक्तिगत इतिहास की अदना पूँजी
न वक़्त को रास आयी,
न स्वीकृत ही हुई कमल चरणों में।

न कोई सेज़ सजी थी बन-फ़ूल की,
न था कहीं सुराख़ उसके नाम का ...
पैरों के नीचे
अब भी वही ज़मीन थी, और
हाथों में टुकड़ा बँज़र ख़्वाब का।
महरूम, पैबन्दों पे टिका,
खुद को झूठा दिलासा देता भी तो क्या,
न साथ था हसीन ये ...
रूह काँप गयी पर्दे के गिरते,
और ख़त्म हुआ तमाशा-ए-आम खेल ...

न तारों ने बदली मेरी या अपनी चाल,
न खोया होश, न ही जुड़ा हिसाब।

श्यामल रात
नशेमन को बुनती उँगलियों संग
बहक चली,
किरदार-ए-उर्ज़ को फ़िर भी
न आया क़रार।

***

क्या ही बूझ पाओगी मेरे बेहाल, अचंभित
मन का आवेश ...
बस मैं था, तनहाई थी,
और थी मृगतृष्णा की उल्लंघित
खींची लकीर।
अजायबघर के पगले शौक़ीन की वो
अनूठी,
अविस्मृत,
तक़दीर-ए-तस्वीर ...

तड़प

अज़ीम

अहल-ए-वफ़ा की खाक़ छानते
इन अँधेरी गलियों में
यूँही कब से भटक रही थी
कि बरसों पुराना
वो तुम्हारी आँखों से छलका
इक अश्क़ मिला
तो ये ख़याल आया –
क्या तुम्हीं को तलाश रही थी
हर चेहरे में,
बिना जाने, पहचाने,
प्यासी,
अधूरी,
बावरी-सी हो?
क्या तुम्हीं बसे थे
इन बीतते पलों के हर पल में,
जो ये ख़याल भी पराया-सा लगा?
क्या किरण ढूँढ पाती है कोई अस्तित्व
सूर्य से ले विदा?
क्या कश्ती खोज लाती है किनारा
सागर से हो जुदा?

आज उन सभी तन्हाईयों को टटोला तो यकीन हुआ
कि क्यूँ तुम जा के भी न गए।
क्यूँ मेरे न होके भी मेरे ही हो गए।

दिल गवाह है कितने आए –
कुछ लेने,
कुछ छीनने,
कुछ हासिल करने।
कभी पुजारी बन,
तो कभी भिक्षुक।
कभी उल्फ़तों के मदारी बन,
तुम्हारे हिस्से के इच्छुक।
पर वक़्त का जो पाक़ नज़राना तुम से मिला,
वो वक़्त खुद भी न लाँघ पाया।
चौखट पे ही खड़ा रह गया,
निस्तब्ध,
झोली फैलाए।
इक बोल न उभर पाया उसके होंठों पे।
हताश,
पराजित,

क्रोध में उन-सा जलता रहा,
देखता रहा,
टकटकी लगाए,
जो तुम बटोरते गए हथेली में
यूँ बहते अश्कों की लड़ी
जैसे आख़िरी सावन की
आख़िरी बूँदें हो।

तनिक और कुरेदा समय की
गीली मिट्टी को पलकों से
तो अंकुर-सा फूट पड़ा वो पहली मिठास का
पहला एहसास।
भले इक उम्र गुज़र गई थी तुम्हें देखे,
पर हलके-से स्पर्श से
वो फिर ज़िंदा हो गया,
मानो कल की ही बात हो।
धनक-सी फैल गई मन की तरंग,
लगा क्षितिज ने छू लिया।
शायद यही वजह थी कि
कोई और चेहरा ज़हन में न उतर सका

तुम्हारे बाद।
वो मुस्कुराहट,
वो हाव-भाव,
वो चंचलता।
वो तुम्हारा मुझे हँसाना,
खिलखिलाना,
वो छेड़ना, मनाना।
सब अमिट स्याही-सी छप गए थे अंतर्मन में।
धूप, बरसात, आँधी, या शीत –
इंसान ही नहीं,
ऋतुएँ भी विफ़ल थीं।
उस आईने में बसे
तुम्हारे प्रतिबिंब को कोई भी धूमिल
न कर पाया,
ऐसे शामिल थे तुम मुझ में कुछ इस तरह।

बीती गलियों में
वो तुम्हारी सरगम अब भी मौजूदा है
जिसका आग़ाज़ मैंने कभी जिया था।
वो लफ़्ज़ों का तुम्हारे रस में घुलना,

वो चाहतों का समा में पिघलना।
वो हर हरक़त का मचलना,
वो हर शोख़ी, हर अँगड़ाई का
अंजुमन में सिमटना।
तुम्हारे खेल, कहानियाँ,
जीवन से भरी, ये जीवन की पहेलियाँ।
क्या ही भूली थी मैं ...
बस इक बहाना था,
झूठा दिलासा था,
इस खाली मकान को ढहने से
रोके रखने का
फ़िज़ूल-सा, नाकाम फ़साना था।

ज़रा सहलाया तो वो सभी आहें
जो दबी ख्वाहिशों में दफ़न थीं एकाएक बोल पड़ीं।
फ़िज़ा में तुम्हारा नाम गूँज गया –

अज़ीम,
अज़ीम,
अज़ीम,

और साँसों में बसी वो हर दुआ
जो बड़ी शिदत से माँगी थी
कामिल हो चली।

***

भीगी पलकों के आगे
अब फिर वही मंज़र था –
आँसुओं को पोछती हथेली,
और हाथों से खाया हर निवाला,
शिरोमणि।

अहल-ए-वफ़ा की खाक़ छानते
इन अँधेरी गलियों में
यूँही कब से भटक रही थी –
तुम्हें नैनों में समेटे,
हाय, इन नैनों की ये कैसी बेकसी ...

गुलमोहर

स्वप्न के धरातल से जन्मी
वो ऐसी-ही मुलाक़ात थी
हमारी
जो मेरी परछाईयाँ
कब उसके ही रंग में रंग गईं,
पता न चला।

ऐसे तो कितनी ही दफ़ा देखा था उसे –
खिड़की के बाहर,
ऋतुओं से परे,
उसकी लालिमा को अम्बर से चल
ज़मीन पर बिखरते।
उस सादगी को
दिल के बरसों से बंद दरवाजों को
एक हँसी से खोलते।
उसकी सुगंध,
उसकी रूह को
मन की गलियों में बसते,
बरसते।

पर आज वो बिल्कुल नवेली थी।
अनदेखी,
अनछुई।
मेरी जुस्तजू से बनी,
मेरी जुस्तजू को अर्पण।

कमरे के भीतर, घूँघट में छुपी,
वो चाँदनी की काया,
जिस्म में पिघल-पिघल गई।
हया,
अदा,
सितम।
वो सारी नाज़ुकीयाँ
जो शाम अपने पहलू में रखे बैठी थी,
जुगनूओं की कोई बारात हो जैसे,
उसके चेहरे पे दमक पड़ीं।

ऐ खुदाया,
अभी नज़रों का इशारा समझता ही
कि उन अधरों की सीमा बदल गयी।

सारा आलम सुर्ख़ हो उठा।

धड़कने,
जो कभी सीने में महसूस न की थीं,
अचानक पटरी पे मचल उठीं।
मन में इक कोलाहल था
धधकते अरमानों का।
मानो अभी बाहर आ
सब कुछ निगल जाएगा।

कितनी भूली चाहतें
फिर ज़िंदा हो गईं मुझ में
कि जैसे कभी बिछड़ी ही न थीं।
चन्दन की तरह
वो लाल
जिस गली से भी गुज़रा
अपनी खुशबू में मुझको डुबाता गया।
और प्यासे सावन की भाँति
मयकशी में समाया
मैं डूबता गया।

उम्मीद तो तिनके की भी न थी,
सो जब बहारों ने सँभाला,
तो बदहवास-सा मैं
बिखर चला।
उसके हाथोँ ने जो चूमा,
तो ये वीराना बदन
किसी मज़ार-सा सिन्दूरी
फ़लक पे सज पड़ा।

वक़्त अपनी गति भूल
खिड़की से झाँकता रहा।
और आलिंगन में कैद,
जूनून-ए-जश्न से लैस,
कुछ होश में, कुछ बेहोश,
आईने-सा पारदर्शी,
मैं रम गया,
निखर गया।
गुलमोहर में बसा,
गुलमोहर पे फ़िदा,
मैं और मेरा सवंर गया।

बंदिनी

आधी रात इक सपने से जागी
तो पहली बार देखा तुम्हें,
सलाखों के परे,
जहाँ अमूमन
सिर्फ़ अँधेरा ही बैठा होता था,
और वक़्त,
बीतते हुए अरसों की लाठी लिए,
अक़्सर ठकठकाता रहता।

आज,
वो आँखें जिनमें
तुम्हारे इंतज़ार की
कभी चुपी बसती थी,
वो बातों के लिए व्याकुल थीं।
अब बोल पड़तीं,
तब बोल पड़तीं,
मानो किसी गूँगी ज़ुबान को
पहली दफ़ा
आवाज़ की इनायत बक्शी गई हो।

स्याह पलों की लिखाई
धूमिल हो चली,
और मन का शोर
किसी भटके हुए राहगीर की तरह
कानों के पर्दों पे,
प्यासा,
भूखा,
बेचैनी में भीगा,
दस्तक देने लगा।

***

कहाँ थे अब तक?
और इतनी देर क्यों?
मालूम है कितने बरस बीत गए?
तुम भी इसे सच मानते हो?
देखो तो कैसी दिखती हूँ मैं,
ये सफ़ेद लिबास,
ये खाली माँग,
ये नंगे हाथ? बोलो!

अच्छा, चलो ये बताओ,
मेरे चेहरे की ये लकीरें
क्या कहती हैं?
क्या वक़्त खण्डहर-सा
दिखता है इनमें,
या सूरज के सातवें घोड़े से भी
तेज़ गुज़र गया?

कुछ बोलते क्यूँ नहीं?
ये ख़ामोशी काट रही है।
तुम्हारे होंठ सूख गए हैं,
पर देखो, मेरों पे तो अब भी
तुम्हारा ही नाम है।

***

कैद से बोझल, मजबूर हुआ एहसास,
माथे की रेखाओं को
छोड़
कमरे की सिली हवा में

भीग, गहरा हो चला।
लगा हर बंदिश के परे,
चाँदनी ने चूम लिया,
चख लिया,
ज़िंदा कर दिया।

इक तपिश-सी जलने लगी मेरे चारों तरफ़।
और वो हर गुमनाम शिकायत
जो लफ़्ज़ों में बाँध
रोज़ सिराहने रख सोती थी
धधकने लगी।

हवा में चमकीला गुबार फैल गया।

कोई निशान,
कोई सुराख़ न रहा
गुज़री तन्हाईयों का।
बस पिघलती ज़ंजीरें थीं,
पिघलता आलम था।
कुछ नज़दीकियां,

और सरफ़रोशी का मौसम।
इक मीठा नशा महकने लगा
मेरे इर्द-गिर्द उस चार-दीवारी में,
कि लाठी की पीट
थकन से चूर ज़मीन को थपकियाँ देती
महसूस होने लगी।
और वो तमाम उम्र बटोरीं
नादान हसरतें
जो अब तक जाग रहीं थीं
चाँदनी की ताक में,
इस आसेब के बिछौने
को गुदगुदी हथेली समझ
इक आखिरी नर्म नींद सो गईं।

***

कल्याणी, कल्याणी!
कोई पुकार रहा है मुझे!
तुम सुन रहे हो?
रोशनदान से चाँद नहीं दिख रहा अब।

छुप गया क्या?
ये कोयले-सी काली, घुप अँधेरी रात
जाने कौन-सा बिसरा इतिहास दोहरा रही है,
क्यूँ वापिस बसेरा डाल रही है यहाँ?
रोको उसे!
यूँ बूत क्यूँ बने बैठे हो? कुछ करो!
देखो ये आँखों के आगे कैसा अँधेरा!
हटाओ!
हटाओ!

***

आधी रात इक सपने से जागी
तो पहली बार देखा तुम्हें।
कोठरी में अब
न अँधेरा ठगता,
न पिछले सिलसिलों की कड़ियाँ जकड़तीं।
बस इक बंदिनी मौजूदा थी,
और वक़्त, बीतते हुए अरसों की लाठी लिए,
अक़्सर ठकठकाता रहता।

रक्त-सी लाल

रक्त-सी लाल थी उसकी वो चुम्बन,
जैसे मानो अधरों से होके
नसों में घुल जाती थी।
मेरे रोम-रोम को तड़पा के,
जला के,
गला के,
दिल-ए-नादान,
तेरी हर साँस को महकाती थी।

वो शाम थी तेरे आने की,
जाने कितना वक़्त
हाथों से यूँही फिसल
चला था।
आकाश का सूनापन,
इक टूटे सितारे की तरह,
मेरे अन्दर कुछ ऐसे ही बिखर,
सिमट पड़ा था।

मालूम न था पर ये एहसास बाकी था
कि मेरी आह की गूँज़ तेरी

वीरान वादी में इतनी जल्द तो
न ख़ाक़ होगी।
कुछ कतरन तो मेरे गीले बदन की,
बर्फ़ की तपिश-सी,
तुझमें अब भी मौजूद,
चाहे राख़,
होगी।

जो आँखों से बिन इजाज़त,
साल दर साल,
झरते रहे
तेरे नाम के कुछ बेनाम,
दर्द-भरे मोती,
ये उनकी कैसी अदभुत
कशिश थी
कि आज मन के अँधेरों को पिघलाती
जल रही थी
वही इक ज्योति।

क्या कुछ न सजाया था मैंने

तेरे इस्तक़बाल को –
ये देह ही नहीं,
उत्सुक मन भी था
कोरे चाँद-सा
खिला हुआ।
गली में तेरी यादों की
शम्मा रौशन थी,
और माथे पे वादों का
शामियाना
दुआ-सा
ठहरा हुआ।

इस बैरन जुदाई में,
घूँट-घूँट पीती रही
तेरे होठों से टपके
हर लफ़्ज़ को,
कि ज़हर नहीं
शराब हो।
कि तू आए
तो न्योछावर कर सकूँ

ये मेहफ़ूज़ रखे
अधेड़ लम्हें,
जैसे कोई नूरानी शबाब हो।

***

रक्त-सी लाल थी उसकी वो चुम्बन,
कि आज मुँडेर पे बैठी
देखती हूँ उस काफ़िले को
जिसकी आहट से कभी
ये जान
जाती रही।
मंज़र पे मंज़र गए बदल,
कभी संभल।
पर दिल-ए-आरज़ू,
वो तसव्वुर में भी
मेरी हर आस को
बहलाती रही।

कुछ तो लोग कहेंगे,
लोगों का काम है कहना।
छोड़ो बेकार की बातों में कहीं बीत ना जाए रैना।

कुछ रीत जगत की ऐसी है,
हर एक सुबह की शाम हुई।
तू कौन है, तेरा नाम है क्या, सीता भी यहाँ बदनाम हुई।
फिर क्यूँ संसार की बातों से भीग गये तेरे नैना।

कुछ तो लोग कहेंगे ...

हमको जो ताने देते हैं,
हम खोए हैं इन रंगरलियों में।
हमने उनको भी छुप-छुपके आते देखा इन गलियों में।
ये सच है झूठी बात नहीं, तुम बोलो ये सच है ना।

कुछ तो लोग कहेंगे ...

आनंद बक्शी

खोल दो

मुझे खोल दो,
उधेड़ दो,
फिर अपनी सुर्ख उंगलियों पे लपेट दो।
वह हर जगह जहां मैं छुपा हूं,
मैं झूठ हूँ,
हवा हूँ।
कभी फ़रेब तो कभी अँधा-गूँगा गुमान हूँ।
सिर्फ और सिर्फ नशे का
सम्भलता-गिरता,
ठिठुरता हुआ
धुँआ हूँ।

इक बार तो,
आवाज़ दो,
कि हर साँस में ही तो तेरी
मैं परवान चढ़ता हूँ।

मुझे रोक लो,
हर भेद लो,
पल-पल इस सीने में यही

अदना-सा
अरमान भरता हूँ।

आओ तोड़ दो,
कुफ़्र की कब्र को,
जिसके दफ़्न मस्तक पे बरबस,
अकेला,
अभिमान पढ़ता हूँ।

बेचैन हो,
बेहाल हो,
आरज़ू की
कैफ़ियत में डूबा
खुद से ही अनजान रहता हूँ ।

कि किस कदर
हूँ तुम पे फ़िदा कि
क़यामत तक,
क़यामत से परे
निसारे जान करता हूँ।

वक़्त की हो लहर,
या गम की
दोपहर,
इस वादे में चुका,
इस वादे पे बिका,
हर लफ़्ज़ की आबरू को
अब अपनी आन समझा हूँ।

दिल-ए-आरज़ू
से जन्मा,
जुनून-ए-इश्क़
में लहलहाता,
मैं, मौज़-दर-मौज़,
तुम्ही को आज़ान कहता हूँ।

हाथों में हाथ,
तू मेरे साथ,
इक इस भरोसे को अदा
अपना सबब,
अपना ईमान करता हूँ।

मुझे जीत लो,
संग सींच लो,
फिर स्याह रात की बंद मुट्ठी में
समेट लो।
वह हर सिलवट जहाँ मैं छुपा हूँ,
मैं तुम हूँ,
तुम्हारा हूँ।
कभी बर्फ़,
तो कभी बात्ती से जलता
दीया हूँ।
इस अपनी-सी गुज़रती शाम में
चाहे बेगाना ही सही
पर जिया हूँ।

इंतज़ार

हाथों से वक़्त छूटता गया
और मैं किनारे पे बैठा
समंदर ढूँढता रहा।

शायद कहीं कोई अँगड़ाई बाकी थी।
शायद तेय करनी थी
चंद और आँसूंओं की गहराई।
माज़ी से भरा पैमाना
अब भी थोड़ा खाली था।
इक आख़री लम्हे की आस थी,
फिर पीनी ही थी
ये ज़हरीली जुदाई।

साँसें,
लहू-सी गर्म,
उसके जिस्म में
सुराख़ पे सुराख़ करती रहीं
और मैं देखता रहा
चुपचाप,
बेशर्म,

बेहया।
और वो सब ख्वाब
जो बगल में दबोचे रखे थे
एक-एक कर गिर पड़े
जैसे प्यासे, मुरझाए पत्ते।

जहाँ तक नज़र जाती
हर शाख फूलों से लदी थी,
पर ज़मीन पे बिखरे
ये बेबस
ऊपर गीले आसमान को देखते रहे,
मानो बस इक बूँद का
इंतज़ार था।

अभी झुका ही कि उन्हें
हथेली में छिपा लूँ
तो सामने समंदर तैर पड़ा।
उग्र आग के गोले-सा लाल,
पर चाँद-सा शीतल।
कुछ ऐसी थी उसकी छाया

कि साँझ की भट्टी मैं झुलसा
मेरा रोम-रोम सिहर उठा।
लगा किसी ने खुले हुए घाव पे
नर्म हाथों से
ठंडा लेप रख दिया।

जो कुछ धधक रहा था
शाँत हो गया।
बिल्कुल वैसे जैसे सूखे पत्तों में
बसंत लौट आया हो।

तभी कुछ धुँधला-सा
ठिठुरते पाँवों के सहारे
उठ खड़ा हुआ,
मानो कोई रेत का किला हो
जो लहरों पे अचानक ठहर गया।
आँखें गुलाबी हो उठीं,
होंठ तृप्त,
जीवंत,
लाल।

विरह की जलन गले तक न पहुँची।
रुकी,
बुझी,
फिर अमृत बन
नसों में दौड़ गई।

अब ना कोई तलाश बाकी थी
ना अँगड़ाई।
वक़्त ज़ंजीरों से आज़ाद
किनारे में घुलता कुछ छोड़ चला।
शायद ये किस्सा,
शायद कोई नई लिखाई।
पैमाना क्षितिज से भर गया था।
कोई प्यास न रही,
बस मैं
और मेरी अधूरी-पूरी
तन्हाई।
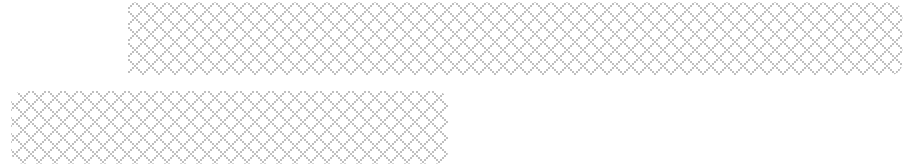
तलाश

लहरों के शोर को
इतने करीब से
पहले कभी नहीं सुना था।
मेरे अंदर का तूफ़ान,
बीते वक़्त की तरह,
बेजान मालूम होता था अब।

रोज़ साहिल पे आते
जाने कितने अरसे हो गए थे,
पर इतना अपना
आज वो पहली बार लगा।
जैसे कोई चिट्ठी
हज़ारों बार पढ़ने पे
आज समझ आई।
कि मानो आज उसके हर शब्द,
हर भाव,
हर गहराई से
मेरा पहला परिचय हुआ।

कुछ नयी ही बात कह रहे थे दोनों,

साहिल और लहरें।
कि जिसे तसव्वुर में तलाश रहा था,
वो तो मन के एक काले,
अंधेरे कोने में,
कौन जाने,
कब से बैठी थी।
कि उसकी साँसों को अनसुना कर
यूँही बेकार
किसी दूसरी सदा का
इंतज़ार था मुझे।

कि लोगों की भीड़ में
कब का गुम हुआ मैं
उसके हलके ,
पर झील-से गहरे एहसास को
महसूस नहीं कर सका।

समंदर शाँत होता,
ठहरा होता,

तब भी शायद
न सुन पाता,
न देख पाता।
कुछ ऐसा खो चुका था
इस जीवन के आवागमन में।

दो कदमों की चाप नहीं
गूँज पा रही थी अब
मेरी सैकड़ों पैरों से ठसाठस भरी
वादी में।
सिर्फ सनाटा था,
मेरे पथरीले,
ज़िंदा होते हुए भी बेजान
दिल का।
कोई आसमान को भी
अपने दर्द से चीर देता
तो एक आह तक न सुन पाता,
इतना दूर जा चुका था
खुद से।

बड़ी ही विचित्र थी ये
तलाश हमसफ़र, हमख़्याल की –
कि उसे पा के भी,
किसी तिज़ारत
की तरह,
सरे बाज़ार खोजता रहा।
बदहवास मुसाफ़िर-सा तड़पता
मंज़िल पे खड़ा मगर
मुक़द्दर-ए-राह से अनजान
महफ़िलों को छानता रहा।

और बेशक़
ऐसी बेग़ैरत खामोशी में
वो आज भी सुनाई न देती अगर
मैं खुद को डुबाने,
जाम के बजाए,
यहाँ न आता।

बोलती तनहाई

तुम भी चुप थे,
मैं भी चुप थी।
बोलती तो सिर्फ तनहाई थी।
कभी छलकती,
कभी मचलती,
और बिन बात ही गुनगुनाती।

ज़रा पल भर को पलक झपकती,
तो सपनों की डोरी से
न जाने वो पगली
कितने तारे
संग बाँध लाती।

कुछ पूछो
तो मानो रो पड़ेगी
ऐसे दिखलाती।
न लब खोलती,
न सिर हिलाती,
बस मिट्टी की गुड़िया-सी
टकटकी लगाए
चुपचाप देखती जाती।

और जो न पूछो,
तो यह सोच
कि शायद तुम-मैं नाराज़ हैं,
वो होठों से इक शब्द फूटे बिन ही,
बकबाकिया हो,
थिरकती आँखों से
सब किस्सा खोल आती।

तुम भी चुप थे,
मैं भी चुप थी।
बोलती तो सिर्फ तनहाई थी।
कभी छलकती,
कभी मचलती,
और बिन बात ही गुनगुनाती।

तुम देखते तो भी क्या जाने
यकीन न करते
कि कितने नए-नए रूप ले वो
नित मन को रिझाती।
और जो न बन पाता,

तो हाय कैसे बौराती,
तमतमाती!

इतनी अल्हड़,
इतनी बेबाक,
कि बिन कुछ सुने,
बिन कुछ समझे,
फाल्गुन में भी चैत को
गुदगुदे हाथों से
थपकियाँ दे
होले-होले गरमाती,
इतराती।

जो तुमसे ही न लड़ती,
जो मुझसे भी न कहती,
वो नटखट,
वो बिजली,
बिन बदली ही,
बरखा की अनगिनत बूँदों को
अपने रुँध गले में समा, गुज़र जाती।

हाय रे, कैसी पहेली थी
जो मन के भावों को
कोई सिक्कों का
समझ खेल,
अपनी सुनहरी हथेली पे
टटोलती,
फिर चुपके से झोली में उलट,
वो मनचली,
सारी दुनिया जीत,
जगमगाती।

तुम भी चुप थे,
मैं भी चुप थी।
बोलती तो सिर्फ तनहाई थी।
कभी छलकती,
कभी मचलती,
और बिन बात ही गुनगुनाती।

कहीं दूर जब दिन ढल जाए, सांझ की दुल्हन, बदन चुराए, चुपके से आए।
मेरे ख़यालों के आँगन में कोई सपनों के दीप जलाए, दीप जलाए।
कहीं दूर जब दिन ढल जाए ...

कभी यूँही जब हुईं बोझल साँसें, भर आईं बैठे-बैठे जब यूँहीं आँखें
तभी मचल के, प्यार से चल के, छुए कोई मुझे पर नज़र न आए, नज़र न आए।
कहीं दूर जब दिन ढल जाए ...

कहीं तो ये दिल कभी मिल नहीं पाते, कहीं पे निकल आयें जन्मों के नाते।
है मीठी उलझन, बैरी अपना मन, अपना ही होके सहे दर्द पराये, दर्द पराये।
कहीं दूर जब दिन ढल जाए ...

दिल जाने मेरे सारे भेद ये गहरे, हो गए कैसे मेरे सपने सुनहरे।
ये मेरे सपने, यही तो हैं अपने, मुझसे से जुदा न होंगे इनके ये साए, इनके ये साए।
कहीं दूर जब दिन ढल जाए ...

योगेश

एहसास

जो कभी जिया न था
वो एहसास कैसे बयान करता।

औंधे पड़े थे
कुछ अरमान दिल की राह पर,
करवट बदलने को बेकरार।
मैं किनारे बैठा
उम्र-भर बस उन्हें देखता ही रहा था।
न चला ही,
न रुका।

न यादें थीं पास,
न सितारे।
आकाश का कालापन
आँखों में भर गया था।
राह भी ऐसे ही अँधेरी थी।
मानो शम्म-ए-ज़िन्दगी बुझ रही हो।

ग़म ने चाहे मेरे अंदर
घर बना लिया था,

पर आज सवेरा नीलाम होगा
ये ख्याल अब सस्ता लग रहा था।

मिट्टी की लालिमा
किसी अधूरी नींद का प्रतीक-सी
मालूम होती थी।
कितना ही पलकें मीचता,
पर वक़्त की आँधी को
ये सोए-जागे ख़्वाब क्या रोक पाते?

बरसों से दबी
जिस्म की आग सहसा भड़क गई।
चिंगारी बन
मेरी हर साँस को जलाने लगी।
सब कुछ झुलस गया,
मचल गया,
छलक गया।
ऐसे लगा जैसे कोई पुराना,
बिछड़ा साथी पुकार गया।

नज़र के पार
कुछ न दिखता,
आँसुओं ने ऐसी बाँधी थी
अंगारों की झड़ी।

मन में बसे उस मोहन के
लौटने की राधा की
वो अटल आस
तो फिर भी वाज़िब थी –
बीते वादे का जो था साथ।
पर मेरी इस अराधना की
ये कैसी थी अचली श्वास –
न कोई काया,
न कोई सूरत,
न रूप,
न रंग ...
न देखा जिसे
उस मूरत के लिए ये कैसी थी प्यास?

रूह संजीदा थी,

व्याकुल थी –
हर बरस इक जन्म जैसे जो काटा था।
कैसे न पहचानती उसकी आहट को,
राह पे कान लगाए
वो कब से लेटी थी।

***

बीतती रैन संग अनछुआ अफ़साना लाई।
दर्द लाई, दवा लाई,
मिलन लाई।

ढोल का नाद चारों दिशाओं को भेद
गगन में गूँज़ने लगा।

मधुबन-सी महकती
इक नई भोर का आग़ाज़ था,
इक नया मौसम था,
इक नया अंदाज़ था।
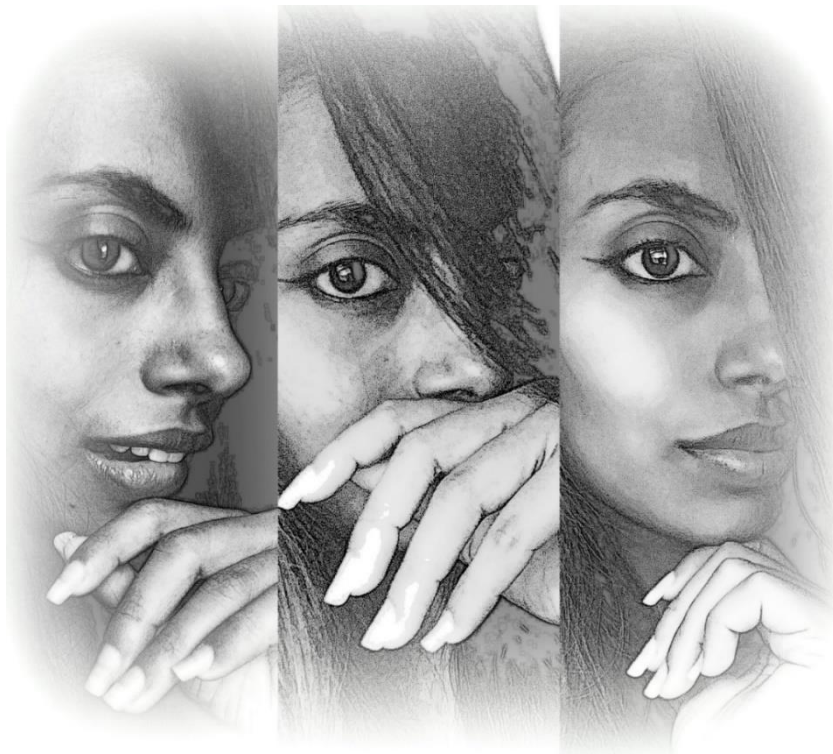
साहिर-ए-लूटेरा

कभी सोचा न था ...

कि ये रात इतनी भी
हसीन होगी।
कि कोई फ़लक से तोड़
नगमों की सेज
सजाएगा।
हाथों में हाथ,
ज़ुबान पे नाम,
अपनी शरीर-ए-हयात
बनाएगा।

कि माज़ी से निकल आज
कोई
इन्तेहाँ की हदें
मिटाएगा।
ज़िस्म-ओ-जान को जोड़,
तय सीमा को तोड़,
अश्क़-अफ़शान से तबस्सुम
निभाएगा।

कभी सोचा न था ...

कि इन हसरतों की भी
ज़मीन होगी।
कि कोई दबे पांव,
सवान की तरह,
तन-मन को जला,
भिगाएगा।
साक़ी के जाम
से उफन आज
लहरों का जाल
बिछाएगा।

दर्द-ए-ज़िगर को
काट,
इस रूह को बाँट,
मेरे उन्स को
महकाएगा।

कभी सोचा न था ...

कि साँसों की ज़िल्द
इतनी नमकीन होगी।
कि कोई सुर्ख लबों को
होले से मिला,
दिल में जज़्बात
जगाएगा।
बिन कुछ कहे,
बिन कुछ सुने,
मन-मंदिर को ख़ुदा
बनाएगा।

कर इबादत मक़बूल,
दर पे वो मेरे
ये जन्नत-ए-जहान
खिलाएगा।

कभी सोचा न था ...

कि अफ़सानों की डोली भी
मेहजबीन होगी।

कि अनेकों नूर लिए,
हुस्न के चौखट,
कोई सुकून-ए-सेहरा बाँध
आएगा।
जो इशारों से वाबस्ता
हर नज़र की दुआ को
सिर-माथे
लगाएगा।

कि साहिर की कशिश का
मुलम्मा चढ़ा
इक लूटेरा गुलिस्ताँ
बसाएगा।

कभी सोचा न था
कि ये रात भी कभी
नसीब होगी ...
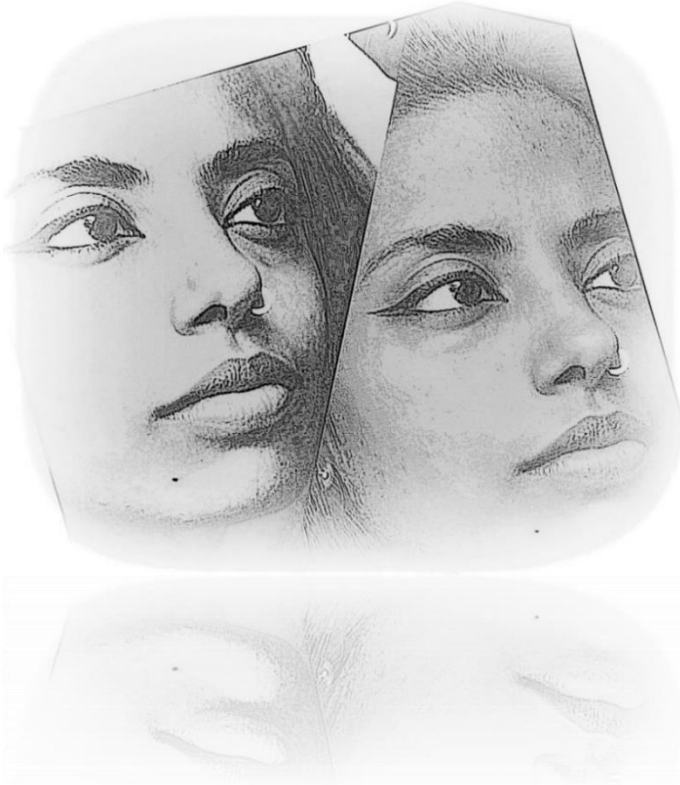
वक़्त के शूल

एक उभरी लिखावट ही बस रह गई
कल की।
आज जब आईने में खुद को खो चुका हूँ,
तब वही हर बार ढूँढ लाती है।

आँखों में समंदर का शोर,
पलकों पे ठिठुरते सपनों की डोर,
और हलके से मुझको सहलाती
उसकी खुशबू हर ओर।

उसके थिरकते पैरों तले सोई ज़मीन
मानो जैसे थोड़ा जी लेती।
मैं एकाग्र खड़ा बस देखता रह जाता
और वो अपने प्यासे नयनों से
बादलों का रुख मोड़ देती।
धरती,
आसमान,
दोनों झूम उठते,
गीली मिट्टी जब आवारा पवन को
चूम लेती।

.

कभी जो मन आवेश में न रहता,
तो उसकी उँगली होठों को दबोच
चुपी के साथ पिघलते, सिसकते मोतियों को
बुन लाती।
फिर मेरे हज़ारवीं बार मनाने पर,
उस माला को तोड़,
मेरे माथे पे
धीरे से
इक मीठी चुम्बन की छाप
छोड़ जाती।
कभी धूप, कभी छाया,
कभी नटखट पहेली,
तो कभी मन की माया।
हर रूप में अनूठी,
वो विद्रोह में भी संगम को रम आती।

कहीं किसी ताल के सरकने की आवाज़ होती,
तो सब छोड़-छाड़,
मुझे सामने बिठा डाँटती, डपटती,
फिर खिलखिलाती।

और जो मैं झूठे ही ज़रा
शर्मिंदा हो सिर झुकाता,
तो वो आईने में खुद को देख
इतराती,
बलखाती,
गुनगुनाती।

इस कदर सराबोर थी वो
ज़िन्दगी के रस में,
कि उलझनों की छोटी-सी शिकन भी
उसे न छू पाती।
जब वो बेफिक्र हो हँसती
तो लगता जैसे पूरी क़ायनात
थी शामिल,
दिल धड़काती,
मन लुभाती।
गुड्डे-गुड़ियों का खेल मालूम होती
तब उसकी हर बात,
वक़्त के सितम से अछूती,
निराली,

तेजस्वनी-सी जगमगाती।

***

बरसों की ठहरी धूल,
आईने की गोद में बिखरे चंद फूल,
और दिल में चुभते,
मुझे चीर जाते,
ये वक़्त के शूल।

एक उभरी लिखावट ही बस रह गई कल की।
आज जब आईने में खुद को खो चुका हूँ,
तब वही हर बार ढूँढ लाती है।
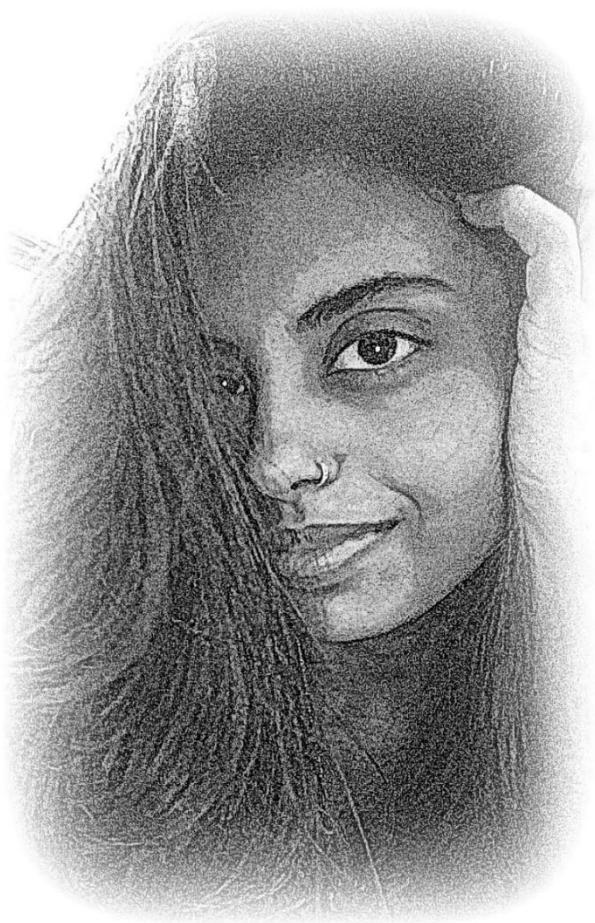
तेरी साँसें

वो लहरें थीं
या तेरी साँसें
कि डूबता, उतरता, उफनता रहा।
किनारे पे ठहरा,
किनारे से आगे,
मैं प्यासा, अधूरा बरसता रहा।

गहराई थी वो तेरी,
या ख्वाबों की भेंट,
या अदा की मैं खुद को गलाता रहा।
अँगड़ाई थी नवेली,
या आहों की सेज,
जो मदभरी दीवानगी निभाता रहा।

था ऐसा भँवर
कि गिरता, सम्भलता,
मैं लम्हों को दरमियाँ बसाता रहा।
कुछ भौरे-सा मोहित,
तेरे रस की नदी में
मैं तन-मन डुबाता, भिगाता चला।

वहाँ वक़्त नहीं,
था बस खामोश अँधेरा
जो आगोश में मुझको सजाता रहा।
साहिल था भूखा,
मेरी कश्ती थी ख़ाली,
यूँ तुझमें बिखर भी समाता चला।

कभी ऊपर, कभी नीचे,
जुड़ा तुझसे ऐसे
कि ज़मीन को दामन में तपाता चला।
उठा दर्द लब से,
मैं भेदा कब कैसे,
कि बादल आवारा गरजाता चला।

लिपटा तुझी से,
मौजूदा तुझी में,
गुलिस्ताँ को उठान में खिलाता चला।
जिस्म से बन के,
जिस्म में घुल के,
मैं जन्नत-ए-नशे में लबलबता रहा।

न पलों का हिसाब,
न बाकी कोई ख़्वाब,
बस ज़हन में दिशाएँ खिलाता गया।
समंदर से गहरी,
ह्रदय से विशाल,
ये रूमानी रवानी निभाता गया।

वो लहरें थीं
या तेरी साँसें
कि डूबता, उतरता, उफनता रहा।
किनारे पे ठहरा,
किनारे से आगे,
मैं प्यासा, अधूरा बरसता रहा।

ओ माझी रे,
ओ माझी रे,
अपना किनारा नदिया की धारा है।

साहिलों पे बहने वाले कभी सुना तो होगा कहीं,
कागजों की कश्तियों का कहीं किनारा होता नहीं।
ओ माझी रे, माझी रे।
कोई किनारा जो किनारे से मिले वो अपना किनारा है।
ओ माझी रे ...

पानीयों में बह रहे हैं कई किनारे टूटे हुये।
रास्तों में मिल गये हैं सभी सहारे छूटे हुये।
कोई सहारा मझधारे में मिले जो अपना सहारा है।

ओ माझी रे,
अपना किनारा नदिया की धारा है।

गुलज़ार
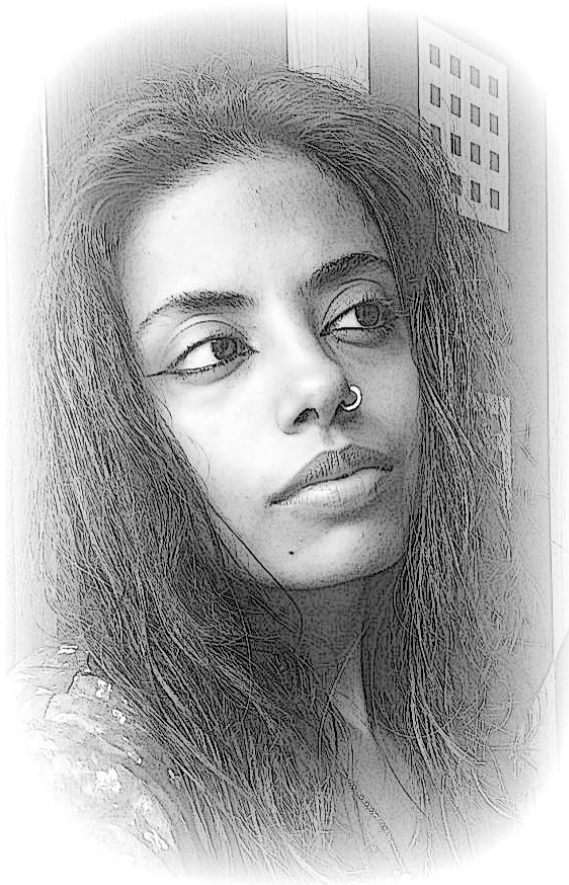
महसूस

कुछ ऐसे महसूस किया है उसे
हर गुज़रती आह में।
जैसे जिस्म में सुलगती आग हो,
और लबों पे तड़पती प्यास।

वो चेहरा आज गुम है
ये आँखें आज नम है,
फिर भी जिंदा है मुझमें वो
इस धुआँ, सिसकती रात में।
कुछ ऐसे महसूस किया है उसे
हर गुज़रती आह में।

उसके छूने से जब
सरसराहट दौड़ती थी साँस में,
तो लगता मानो रूह का कोई हिस्सा
अटका हो आस में।
वक़्त कुछ सोच सिमटता,
फिर एकाएक उभर आता,
जैसे खुद ही लकीरें खींचा हो माथ पे।
कुछ उसके अंदर,

कुछ मेरे अंदर,
कि कोई शीशा चटका हो हाथ पे।

कहाँ से वो होती,
कहाँ से मैं होता,
न ऐसा एहसास था, न कोई सीमा, न रेखा।
बस जलन थी,
हल्की चुभन थी,
जिसे न जाना, न पहचाना, न देखा।

कुछ ऐसे महसूस किया है उसे
हर गुज़रती आह में।

कानों में पहले से वही
कुछ चंद बोल अटके थे।
कभी फिसलते,
कभी हिचकते,
उसके वादों के सब सदके थे।
चुप रात की
आगोश में

वो बिन बुलाए ही यूँ खनके थे।
उंगलियों से बंधे,
उसके स्पर्श में बसे,
खुले बदन पे भींगे, दमके थे।

कौन गवाह होता,
किसे साक्षी कहता,
न दिल पूछता, समझता, न मानता।
बस बात्ती थी,
दीया था,
जो तक़दीर-ए-मझधार में जलता,
बुझता,
पिघलता।

कुछ ऐसे महसूस किया है उसे
हर गुज़रती आह में।

दिल के नशेमन तले
जब कोयल कुछ कहती थी बातों-बात में
तो गुमसुम फ़िज़ा चहक उठती उसमें

जैसे छू लिया हो चाँदनी रात ने।
न इख़्तियार रहता खुद पे,
न संभालता वक़्त जज़्बात में।
कि कोई पीली बारिश की बूँद हो
ऐसे निहारता उसे पात-पात पे।

कुछ ऐसे महसूस किया है उसे
हर गुज़रती आह में।
जैसे जिस्म में सुलगती आग हो,
और लबों पे तड़पती प्यास।

वो चेहरा आज गुम है
ये आँखें आज नम है,
फिर भी जिंदा है मुझमें वो
इस धुआँ, सिसकती रात में।
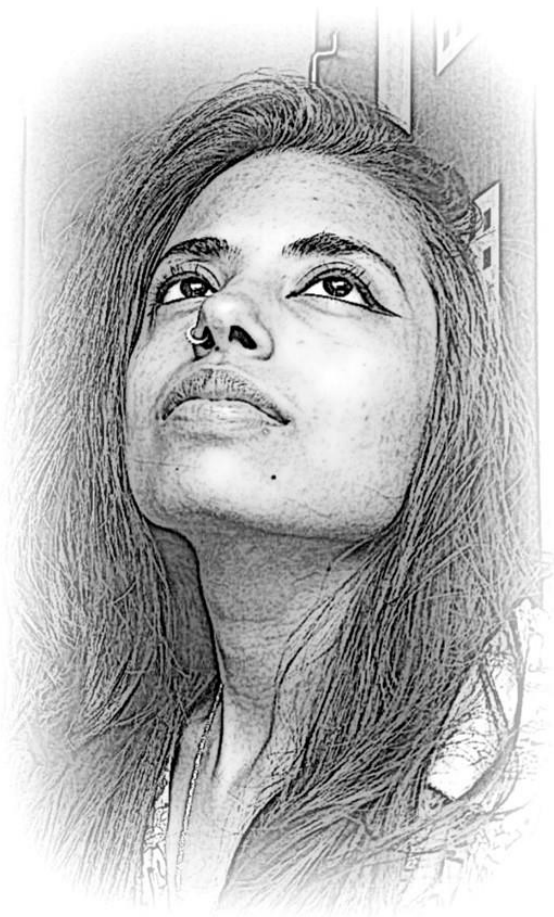
पहचान

महत्वाकांक्षाओं के शिखरों के बीच,
आज अकेली खड़ी थी मैं , बैरागी-सी।
न था कोई मकाम,
न थी कोई मंज़िल,
हाथ में लिए इक धुँधली तस्वीर
जो थी कभी मेरी पहचान।

जब पहली बार देखा था
गगन को चूमने की
उस ख़्वाहिश को पनपते
तो ये मालूम न था
कि एक दिन वो मुझे ही प्यासा
छोड़ जाएगी।

बड़ी ही असाधारण-सी शाम थी।
डूबते सूरज की छवि
समुन्द्र में लहरों के साथ,
इक अनूठी, अकथनीय उमंग पे सवार,
गोते लगा रही थी।
मौजों की धाराएँ समय को बाँधीं-सी

लगती थीं।
मानो खिड़की से बाहर के
इस मनोहर नज़ारे को
मेरे अंदर आने वाले सैलाब का इल्म तक न हो।
चंचल,
किशोर,
अपने में खोया,
रंगीला,
बेखबर।

तबाहियों की परछाईयों तक से कहीं बहुत दूर
कुछ ऐसा था उस चौकोर संसार का माधुर्य
कि आकाश का गुलाबीपन
नयनों के ज़रिए
मेरे कण-कण में उतर गया।
पैरों पे आलते की गरिमा
मेरे चेहरे को किसी शर्म में भीगी,
फूलों की सेज़ पे सिकुड़ी बैठी दुल्हन की तरह
सुर्ख कर चली।
कितनी बेचैनी से राह ताक रही थी मैं इस शाम का।

लो अभी निहारते हुए
चार घड़ी ही बीती होंगी कि चिड़ियाँ
घोंसलों को लौटने लगीं,
और मेरा मन उसके शब्दों की ओर।

क्या कह रहा था वो –

कि एक आग-सी जल रही है सीने में।
कमरे का ख़ालीपन काटता है,
हँसता है,
डसता है।

किस पे?

मुझ पे।
जैसे मुझे मेरी औकात दिखा रहा हो।

मैं तो हूँ। क्या अब भी ख़ाली है? ऐतबार नहीं?

नहीं।

दूर, बहूत दूर जाना है। सब कुछ पाना है।

क्या सब?

वो जिसे दुनिया पूजती है।

तो मैं कुछ नहीं?

बेड़ियों-सी लगती है अब सब बातें।
उड़ान। बस यही सपना है।
बादलों के पार। क्षितिज से आगे।

तृष्णा?
ख़्वाब?
भूख?
पागलपन?
या मौत?

क्या मिल भी पाती उसे ये तृप्ति,
जिसका भार अब मेरे थके कँधे न उठा सकते थे?

क्या बस यही मोल था बीते दिनों का?
क्या यही था मेरा अस्तित्व?
एक तुच्छ स्थान, बिना मायनों के?
एक बोझल रिश्ता,
जैसे कोई ईमारत बिना दारोहर,
खण्डित,
छिन्न-भिन्न,
बेजान?

उसकी आँखों में इस सच को तलाशने का
साहस न था।
हाथों में बस कम्पन थी,
कुछ न पा के भी खोने की अज़ब-सी तड़प।
अभी कुछ समझ ही पाती
कि फ़र्श पे
इक फिसलन-सी महसूस हुई।
देखा समंदर पैरों को जकड़े था,
लाल।
जज़्बातों के खून में नहाई उस अस्मिता की
इस मूक मूरत की

शायद यही थी पहचान ...

***

नीला, जगमगाता पानी अचानक काला पड़ गया।
ठंडी हवा का झोंका काँटों की तरह चुभने लगा।
आशा-निराशा की वो आँख-मिचोली
ठहर गई,
उजली साँझ डूबने लगी।
गला सूख गया।
घूमता समय रुक गया और दो पाँव चल पड़े।

मुझे कुचल के?

नहीं।
मैं थी ही कहाँ।

आखिरी बार

आज सुबह की पहली किरण ने
उसे फिर जगा दिया।
मानो बरसों बंद संदूक की जैसे
वो खोई चाभी मिल गई।

कुछ याद नहीं
क्या सब रखा था उसमें।
शायद इक पिघला लम्हा था
चाँदनी रात का,
शायद मेरे चमन का उजड़ा,
सूखा गुलाब।
मुट्ठी से फिसलती रेत भी थी,
और अरमानों की नाज़ुकीयों में जकड़ा
मेरा हिज़ाब।

जिस पल तुम्हें देखा था आखिरी बार
तुम यही सब तो गए थे छोड़।
उन धधकती आँखों में अब मैं न थी,
थीं तो बस बादलों से भी आगे
उड़ने की होड़।

इक अँधे कुएँ-सी गहरी याद भी
वहीँ सिमटी बैठी थी,
ज़ुबान से रिक्त
पर गूँधे हुए सपनों से भारी।
ज़रा-सी सुईं की चुभन
और सब लतपथ, लाल।
कोई खाली मकान की बेबस ख़ामोशी थी
ये आरी।
उसे हिलाती, सहलाती
तब भी हरकत न होती।
कोशिश पे कोशिश कर थक-हारी,
पर वो न कटती, न काटती,
न हँसती, न रोती।

लो इक और टुकड़ा गिर गया
रोशनी का।
कुछ नया, कुछ पुराना
फ़िर चमक उठा।
ये आँखें जो धुँधला गई थीं समय को ताक,
उनमें सहसा तुम्हारा वह एहसास तैर पड़ा।

अभी उसे बटोर भी न पाई थी
कि इक बंजारा मोती साँसों को हिला
ज़मीन पे दौड़ा चला।

जहाँ नज़र रुकी
वहाँ कुछ पूरी, कुछ आधी
उँगलियाँ बिखरी थीं,
धागे में उलझी,
नीली,
पर बिल्कुल बेजान।
जिंदगी मानो बूँद-बूँद टपकती,
जाती रही,
और हाथ देखता रहा,
अचंभित,
पल-पल तड़पता, पल-पल अंजान।
दिल पथरा वहीं दहलीज़ पे ठहरा रहा।
हुआ देह झूठा,
हुई दुनिया बेईमान।

कहीं से बहुत गर्म,

ख़ून को खौलती हवा चली,
और आकाश मेरे प्यासे दामन में
झुलस गया।
सब कुछ टटोला,
चाँदनी,
उँगलियाँ,
एहसास,
याद,
पर पिलाने को
इक आँसूं न मिला,
न थोड़ी-ही दया।

राख़ हुआ बैठा था
मेरा सँसार,
हताश, अनाथ।
व जो कुछ सहमा छिपा
थोड़ा जिया था,
उड़ गया धुएँ में उसी आग के साथ।

अब सुबह की

वो पहली किरण अशक्त थी।
संदूक में सब होके भी
कुछ न था।

एकाएक याद आ गया
कि क्या छूटा था मुझमें।
शायद इक कुचला हिस्सा स्वाभिमान का,
शायद मेरे बीते सालों का
हिसाब।
पैरों को मरोड़ती
वादों की जंज़ीर भी थी।
और कागज़ों में कैद मेरा अनकहा जवाब।

जिस पल तुम्हें देखा था आखिरी बार
तुम यही सब तो गए थे छोड़।
इन घायल साँसों में अब कोई न था,
था तो बस न थमने वाली
सिसकियों के सफ़र का
आखिरी मोड़।
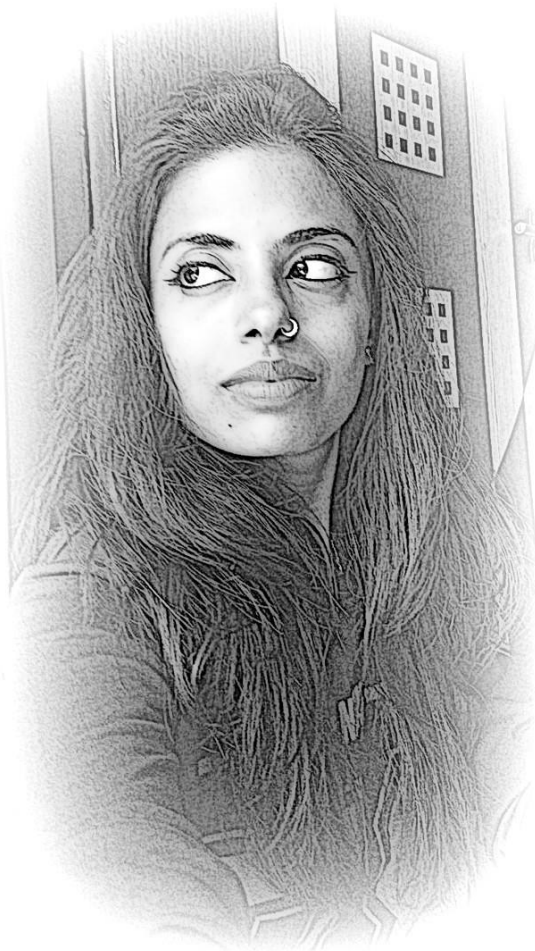
फिर न मिलूँगी

मैं तुम्हें फिर न मिलूँगी।

ये चंद दिन हैं
इन्हें जिए जाती हूँ।
फिर रखना
चादर की सिलवटों में लपेट
मेरी पहचान।

कभी ढूँढोगे मुझे तन्हाइयों में
तो भी न पाओगे,
कुछ ऐसी ही होती है
बिछड़ते दिलों की
दास्तान।

चार पल साथ चलके,
इक बूँद से जन्मित दरिया
बँट जाता है दो किनारों में।
मिलता नहीं फिर,
चाहे तय कर आओ सारा
जहान।

इसलिए
ये चंद दिन हैं
इन्हें जिए जाती हूँ।
फिर न देखना मुझे
आईने की परछाईयों में।
कहीं हो न जाए उसे
गुमान।

सूरज की तपिश को
मुट्ठी में क्या रोक पाओगे,
जाने वाला वक़्त
बस ऐसे ही बन जाता है
अनजान।

बीज से पौधा, पौधे से फूल,
और फूल से फिर धूल,
जीवन के इस चरम सत्य के विमुख
हर कोई हो ही जाता है
बेज़ुबान।

इसलिए
ये चंद दिन हैं
इन्हें जिए जाती हूँ।
फिर फक्र से निहारना
मेरी कहानियों की ये बिन पँख की
उड़ान।

शब्दों के जाल बुनके भी न फाँस पाओगे,
हर लम्हा ही खिसकती जाती है
ये मेरी यादों की
दुकान।

समेटने में इक उम्र गुज़र जाएगी
फिर भी न बटोर पाओगे,
कुछ इतना फैला है तुम्हारी आँखों में
मेरा सामान।

इसलिए
ये चंद दिन हैं
इन्हें जिए जाती हूँ।

फिर सपनों की डोर को थाम
जीना मेरा
हर अनकहा,
पलकों में सहेजा,
अधूरा-पूरा अरमान।

अब न रोको किसी वास्ते,
बस विदा दो।
कदम बढ़ा इस रात के नगर में,
बादलों के पार,
निडर जीनी है मुझे
अपनी नई सेहर की
मसान।

समागम

नीला आसमाँ

बारिश की कुछ बूँदों से छलक आज
वो प्यास फिर ज़िंदा हो चली ...
नीला आसमाँ साहिल पे ठहरा बरसता रहा
और डूबती कश्ती फ़ना हो गयी।

***

जब भी सोचा तुम्हें,
तुम तस्वीर से निकल कमरे में बिख़र आते।
रंगों को छोड़, उस जादुई दुनिया में
जिसे मेरी कल्पना हर बार इक नया आकार
दे जाती।

कभी आलते की लालिमा से सुर्ख,
तो कभी कृष्ण पक्ष की रात्रि से स्याह,
ओढ़नी की ओट में तुम
जब भी दबे पाँव पलंग के पर्दों को खिसका
सिरहाने लेटते
तो खिड़की से भीतर झाँकता चाँद

शरमा के मुँह फ़ेर लेता।
मानो नवेली दुल्हन की सेज़ सजी हो ...
तुम इशारे से उसे समझाते और वो पगला
बेहिचक फ़िर वहीं टँग जाता।
इस इंतज़ार में कि शायद तुम पहर को
बढ़ने से रोक लो,
या वक़्त ही थाम दो,
ताकि लड़ियों में बंधा इन मुलाक़ातों का सिलसिला
कहीं तो रुके ...
आख़िर सिर्फ़ मेरा ही हक़ तो न था तुम पे।

और कभी
जो तुम थकन से चूर
मेरी गोद में अपने सिर को रख मुझे
खुद के दिए नाम से पुकारते,
हाथों को फैला,
मुझसे दूर पिछली गुज़री शाम का हाल सुनाते,
तो दरवाज़े की चिटकनी खुदबख़ुद
लग जाती –

तुम्हें,
तुम्हारी हर बात को अनजाने कानों से बचा,
महफ़ूज़ रखती।
रोशनदान अपनी पलकों को कस के बँद कर लेता
और दीया अपनी लौ को ज़रा मधम ...
कमरे की सीमा छोटी होने लगती,
और नज़दीकियाँ क़रीब ...

आग़ोश में लेटी मैं
शीतल झोंकों से ठिठुर तुमसे आ लिपटती।
तुम हलके से मुस्कुराते,
फ़िर बाँह का घेरा बना सारा समाँ समेट लेते।
झाग से सफ़ेद, पलंग के वो बारीक़ पर्दे
नासमझ चाँद को कोहनी मार हटाते,
और खुद भी ढल जाते।
बिजली की कौंध जैसे तुमसे गुज़र
इक नीला नशा हवा में व्याप्त हो आता।
घड़ियाँ कटने का इंतज़ार करना भूल,
पलंग के इर्द-गिर्द फैल जातीं,

इस भरोसे के साथ
कि तुम उन्हें नाउम्मीद न करोगे,
कि चाहे सेहर चढ़ जाए,
तुम न चलोगे।

जुगनूओं में आपस में
फुसफुसाहट क्या होती,
तुम मौक़ा पा कोई शरारत छेड़ देते ...
कभी उँगलियों से क़मर के बल पे हरकत,
तो कभी फूँक से गुदगुदी ...
इतने अरसे में
तुम्हारी हर चाल से वाक़िफ़,
मैं उसी पल इक ठहठहाका लगा सरक जाती।
तुम चुटकी बजाते रह जाते
और दूर बैठी मैं
मंद-मंद तुम्हारा सुनाया गीत गुनगुनाती ...
बड़े आग्रह पे जब वापिस लौटती बिस्तर पे
तो होठों से तुम्हारे मस्तक पे
अपनी भीनी ख़ुशबू की छाप छोड़

छाती के बालों से खेलती
उसी धुन से इक बार फ़िर
तुम्हें नवाज़ती,
इक बार फ़िर
निगाहों में उतारती।
अभी कुछ नया तुमसे कह-सुन पाती
उससे पहले ही मुझे रोक देते ...
दाँतों में भींच
मेरे लबों की लाली को गहरा रंग देते,
और सारे अगले बोल यूँहीं अटक जाते।
ऐसी निशब्द हुई, मैं भी न छोड़ती ...
तीखे नाखूनों से तुम्हारी पीठ नोचती,
फ़िर बदले में कान काटती तुम्हें अपने और अंदर
खींच लाती।

तुम्हारा स्पर्श ज़िस्म की नसों में
रक़्त की चाप को धड़कती रेलगाड़ी-सा तेज़
कर देता।
कमरे की छत, दीवारें, सामान,
सब कुछ डोल उठता।

गड़गड़ाते बादलों से नाभि पे रिसती,
टपकती बूंदें जो तन पे फिसलती,
तुमसे उत्पन्न कम्पन उग्र होती,
और मुझमें घर कर लेती ...
आकांक्षा और आराधना से सजीले
इस बेशकीमती ख्वाब से रूबरू हुई
मैं अभी खुद को यकीन दे ही पाती
कि तुम मुझमें उतर आते ...
कभी ज़ीभ,
कभी अँगूठे से निचले उभार को दबाते,
तो कभी सहलाते,
कभी धीरे-धीरे भेदते
फ़िर अचानक गति से तुम सब कुछ
झिंझोड़ जाते ...
ग़र्म, महकते पसीने में लथपथ
दो शरीर, अँधेरे में प्रज्वलित, एक हो उठते,
आहें हवा में कुछ देर खनक फ़िर घुल जातीं।
तुम्हारे नाम से जुड़ा मेरा नाम,
सांसों की नग्न, तृप्त छुअन,
मीठी, गूँजती प्रतिध्वनि का आभास ...

नीला आसमाँ कमरे में उलट
तुम्हारे अक़्स में निख़र आता –
लम्बे, घने, घुंघराले गेसुओं में उलझे,
श्यामल रूप धरे,
इस बैरागन शाम में तुम
किसी चित्रकार की प्रत्यक्ष गरिमा से लगते।
अधूरी नींद आँखों में काट रात बीत जाती,
मेरे माथे का कुमकुम
तुम्हारे सीने पे आफ़ताब-सा दमकने लगता,
और खुद के रंग में घोल, श्रृंगार बने तुम
मुझ पुजारन को सुहाग से संवार जाते।

***

बारिश की कुछ बूँदों से छलक आज
वो प्यास फिर ज़िंदा हो चली ...

मिलन
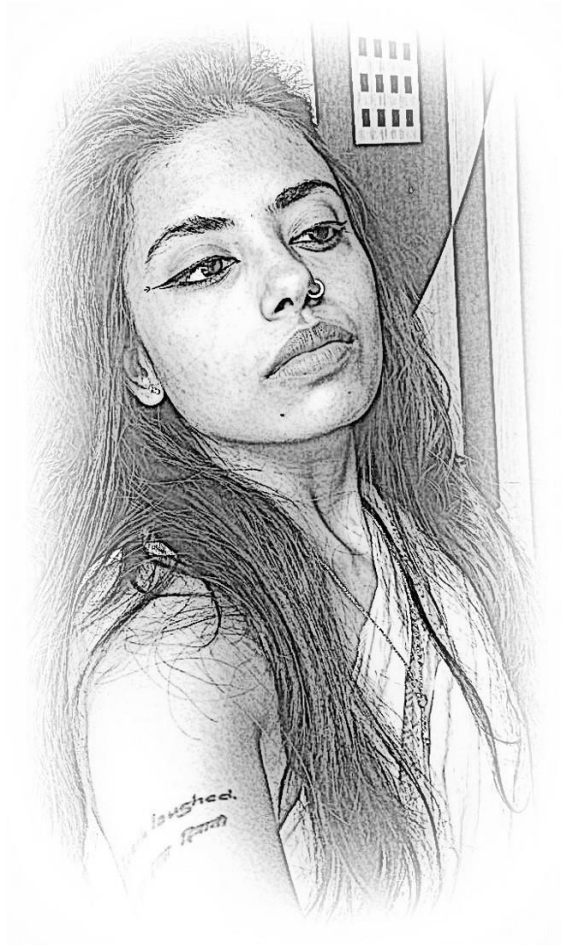
मीरा

इकतारे का हर स्वर आज
फ़ीका लग रहा था।
वीणा की तार
सुलझ के भी थीं खोई-सी, मग्न।
उसके दो बोल ही पड़े होंगे कानों में
कि आसमान गेरुआ हो चला,
और ये तन
जो कुछ भी पिछला छिपाए था,
रिक्त हो गया, नग्न।

श्वास भी बेकाबू हो
बावरी-सी लचकने लगी,
मानो मन की सीमा खींच
पूरी सरगम गयी थी निगल।
धड़कन बढ़
बाँसुरी की ताल पे थिरकी
तो जिस्म में इक बिजली-सी कौंध पड़ी,
उसकी निर्मलता में
मन का मैल गया धुल,
पिघल।

जैसे मिट्टी की मूरत में
बस वहीं ज़िंदा हों
ऐसे झाँकती रहीं उसकी वो प्यासी, तरसती आँखें।
पलकों की चिलमन में कैद,
उन्हें यकीन था
इस कदर मुरली की पुकार पे,
कि न टूटेंगी वो,
बजाए टूट जातीं तमाम साँसें।

कोई बुलाता,
आवाज़ देता तो भी न मुड़ते,
न लौटते,
कण्ठ में व्याकुल वो उसके गीत थे,
बेपरवाह सिसक उठे।
किस बाँध से रुक पाते,
किस बात पे सँभलते,
ठहरते।
मनचले काल के किनारे थे,
श्याम को पुकारते,
श्याम पे जा लुटे।

जहान की दुत्कार भी
न छू पाई उसे
इतना उग्र था जलते मन का संताप।
न भेद पाए रिवाज़ ही कहीं,
न विष का प्याला ही आया काम।
छबीले साँवरिया का जोग लिए जो बैठी थी,
सब करती रही वो दान।
प्रेम का ही दर्पण थी,
प्रेम का ही नाम।

इस लेन-देन के जीवन में
जहाँ छलती थी माया,
निरर्थक ही यूँ गलती थी काया,
इक वही थी अछूती,
वही थी निर्गुण।
कि जिसकी प्यास थी अधूरी,
हर आस थी अचूक,
ये कैसी अपराजिता,
कैसा समर्पण, कैसी हरि-धुन!

मन की कोमलता थी कुछ ऐसी
काटों की शय्या भी थक-हारी।
न छलनी हुआ देह,
न नैनों में वो सूरत डगमगाई।
दीये की लौ-सी दमक उठी बैरागन,
हुई केसरिया, अनुरागी,
ले समस्त दिशाएँ जा समाई।

तहों से उठती उस पीर में भूत,
भविष्य सब गए घुल,
भँवर में जैसे मिल गया था उन्हें
वो भूला-बिसरा माझी।
बिस्मिल हुआ विरह में जो
दर-दर भटक रहा था अब तक,
उस मनमंदिर की इक वही थी
आजीवन, अनन्तर सांझी।
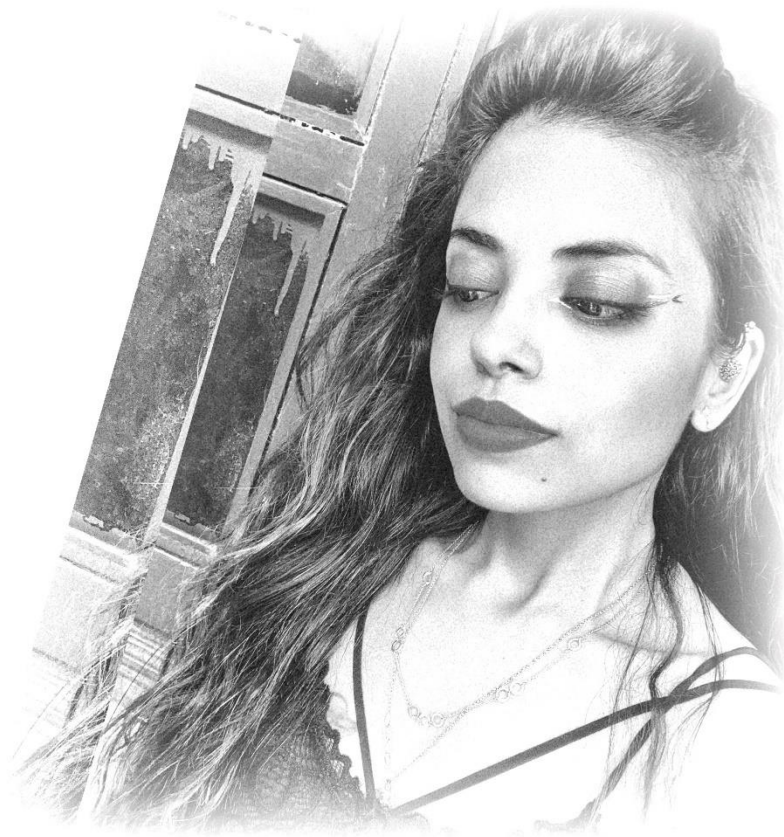
आराधना का आराध्य

जो यूँ ज़िक्र चला तो सब पूछ बैठे,
कौन कहानी छुपाए बग़ल में
मैं घूम रही थी दुनिया की
विभिन्न तमाशों से लैस
सजावट में,
कि किसका अक़्स,
किसकी राह बसी थी
इन नरम, झुकी निगाहों में।
किसका रूप,
किसका भेद दफ़न था
वक़्त के हाथों सिले
लिफ़ाफ़े में ...

वो कौन था
जिसकी नामौजूदगी भी
मेरे हर लम्हे को सराबोर कर
अपनी पहचान छोड़े जाती थी,
क्या ख़ुमार था
जिसकी रूमानियत ही
ज़िस्म-ओ-जान को

भींच आग़ोश में ख़ींच लाती थी।

क्या सर्द, मुलायम शामों का वो
घुलता नशीला पहरा था,
या गीली, गर्म साँसों में महकता
चाँदनी का सेहरा था ...
क्या था कहीं निशान, वज़ूद उसका,
या फ़िर सूनी रात का बस वो
ख़्वाब था,
क्या था कभी पहलू-बंद मेरे,
या सीली हवा में बसाया
ग़ुबार था ...

***

कुछ तो होगा पता-ठिकाना,
कुछ तो होगा उसका नाम,
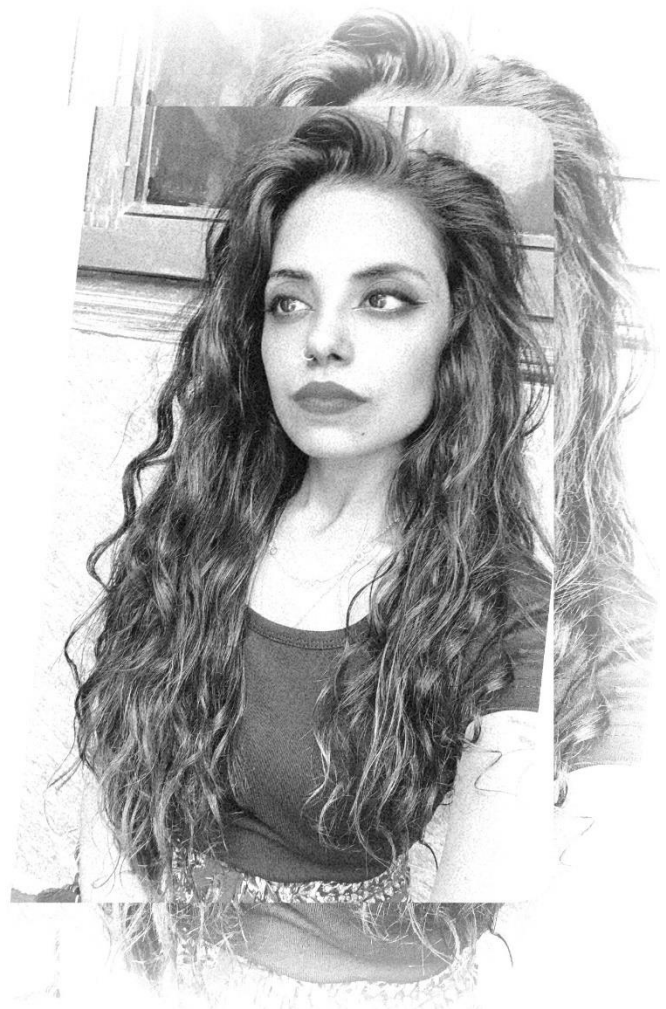
लब पे चुपी काम न आई,
ख़ामोशी देगी जग-हँसाई।

--

ऐसा क्या राज़, ऐसा क्या खेल,
जो इतने अर्ज़ पे भी ज़ाहिर न हो?
ज़िद है ये कैसी
अहंकार ये कैसा,
मानो खुद श्याम से ही जैसे जोड़ा
हो मेल ...

--

छल की ही साँझ है इसकी
छल की ही धूप,
जो होता कोई तो दिखता न कैसे,
अकेली क्यूँ भटकती ये
गलियों से दूर?

--

कोई छोड़ गया होगा इसे जूठन,
या ये ही न बन पाई किसी की
पसन्द,
तभी तो है इसकी माँग अब तक ख़ाली,
और हाथ कोमल, बिलकुल नग्न ...

--

सुहागन की सुर्ख लाली हो,
चाहे सितारों से पिरोई
पाँव में पायल,
भला रश्क़ आए भी तो न इसे कैसे,
उजड़े गुलिस्ताँ-सा इसका
ख़ाली है आँचल ...

--

बदनसीब कह लो
या लकीरों में क़ैद
फूटी क़िस्मत,

ढके न तो क्या करे अभागन,
मुट्ठी में ठहरी भी तो बस
वक़्त की निचोड़ी सिकुड़न।

..

बेशक जो सोचो,
है तो फ़िर भी ये औरत,
चंद सही,
मगर कुछ तो होंगे अरमान,
पर कहे भी तो किससे
खुद बेचे झूठ के मारे,
सो ताना-बाना बुनती रही
हरदम ज़ुबान ...

--

लगता यही सच,
वरना रहती न अब तक खड़ी ये
निशब्द।

कुछ तो प्रमाण देती,
या कोई पुख्ता बात कहती,
देखती न यूँ आसमाँ होके निस्तब्ध ...

***

वो क्या समझते,
काग़ज़ी बँधनों से मुक्त, जुदा
इक कोरा, अछूता इतिहास लिखा गुज़री थी मैं
इश्क़ की पैबंदों जड़ी सुनहरी चादर पर।
उजले सूरज की उधार उठायी
चंद अल्हड़ पगली किरणों संग,
बेपरवाह, बेधड़क, मक़बूल हुई,
दौड़ पड़ी थी मदमस्त
मेरे साँवरिया की आहट पर।

जलते हैं जिसके लिए तेरी आँखों के दीये
ढूँढ़ लाया हूँ वो ही गीत मैं तेरे लिए ...

दर्द बन के जो मेरे दिल में रहा, ढल न सका,
जादू बन के तेरी आँखों में रुका, चल न सका,
आज लाया हूँ वो ही गीत मैं तेरे लिए।
जलते हैं जिसके लिए ...
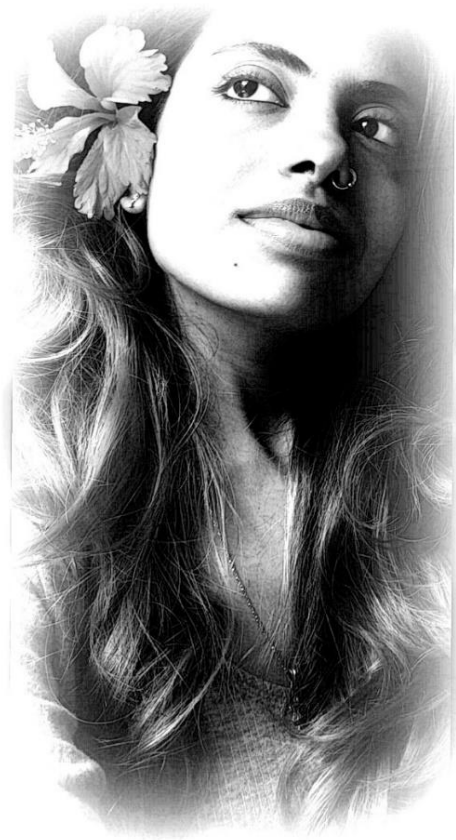
मैं ज़िन्दगी का साथ निभाता चला गया,
हर फ़िक्र को धुएँ में उड़ाता चला गया।

बरबादियों का सोक मनाना फ़िज़ूल था,
बरबादियों का जश्न मनाता चला गया।
हर फ़िक्र को धुएँ में उड़ा ...

जो मिल गया उसी को मुक़द्दर समझ लिया,
जो खो गया मैं उसको भुलाता चला गया।
हर फ़िक्र को धुएँ में उड़ा ...

ग़म और ख़ुशी में फ़र्क न महसूस हो जहाँ,
मैं दिल को उस मकाम पे लाता चला गया।

मैं ज़िन्दगी का साथ निभाता चला गया।

साहिर लुधियानवी

औरत

कविता, कहानी

चुभ के भी अपने
जी के भी सपने